

‘मीरा’ – स्त्री अस्मिता का प्रकाश स्तम्भ

डॉ. रचना बिमल,

स. प्रोफेसर,
सत्यवती महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

मीरा मध्ययुगीन साहित्यकाश का ऐसा प्रकाश पुंज जिसकी धवल रश्मि किरणें आज भी देदीप्यमान हैं। शांत प्रवाहमय जलधारा के समान मीरा के पद उत्तर भारत के अंचलों से लेकर चकाचौंध भरी बॉलीवुड की फिल्मी दुनिया तक गाएँ जाते हैं। ठेठ राजस्थानी भाषा में रचे गए इन पदों को ना केवल शास्त्रीय गायकों बल्कि जनसाधारण ने भी अपनी-अपनी भाषा और बोली में ढालकर गया है। सरल, सहज कविता रच मीरा स्वयं तो अपने गिरधर को प्राप्त करती ही हैं, उनके पदों को गाकर सामान्य नर-नारी भी अपने आँसुओं से ‘हरिदर्शन की प्यास’ बुझाने का प्रयास करते हैं। विषम से विषम परिस्थिति का बिना दुर्वचन बोले, सच्चाई बयां करते हुए अपने लक्ष्य में निरत रह सफलता प्राप्त करना तो कृष्णभक्त ‘मीराबाई’ से ही सीखा जा सकता है। मीरा के रूप में हमें ऐसी मनस्विनी, तपस्विनी नारी के दर्शन होते हैं, जो भक्ति में गम्भीर, विपत्ति में धीर और सांसारिक मोह-माया से निर्लिप्त जीवन जीना सीखाती है। सुख-दुःख को समान भाव से सहते हुए, श्रद्धा, निष्ठा और प्राणघाती विरोधियों के बीच भी अपने अराध्य को समर्पित हो हँसते-हँसते कष्टों का गरल पीना मीरा से ही सीखा जा सकता है। मीरा के लिए यह मार्ग चुनना कितना कष्टप्रद रहा होगा यह जानने के लिए नारी जीवन के इतिहास को टटोलना समीचीन होगा।

भारतवर्ष में कहा जाता है कि— ‘नारी न यस्य अरि’ अर्थात् जिसका कोई शत्रु नहीं होता। दया, ममता, करुणा जैसे गुणों का सागर नारी

कब और कैसे आदिम समाजवादी युग के उपरांत मातृशक्ति के सिंहासन से उतर पितृसत्तात्मक समाज द्वारा प्रताड़ित एवं त्रस्त की जाने लगी? कोई नहीं बता सकता! मनुष्य ने सभ्य होकर जीना क्या सीखा अपनी प्रकृति ही भूल बैठा? दुनिया के श्रेष्ठतम धर्म और संस्कृति का प्रतीक वैदिक काल में तो नारी को फिर भी महत्त्व मिलता था। वेदों में सूर्या सावित्री (वह ऋषिका जिनकी सृजित ऋचाओं के आधार पर ही आज भी हिन्दू विवाह सम्पन्न होते हैं), सुलभा, लोपामुद्रा, अनुसूया, मैत्रेयी, गार्गी, आदि विदुषियों को सम्मान देने के आख्यान मिलते हैं जिन्हें विद्या अध्ययन, यज्ञ करने, शास्त्रार्थ करने, युद्ध में कौशल दिखाने का सुअवसर मिला लेकिन समय के साथ-साथ ये चित्र धुँधले हो गये। पौराणिक आख्यानों के अनुसार— ‘पार्वती’ मनचाहा जीवन साथी पाने के लिए माँ-पिता की इच्छा के विरुद्ध ‘अर्पणा’ बन तपस्या कर, भगवान शिव से विवाह करने में सफल रहती है लेकिन ‘सीता’ को जीवनसाथी के चयन के लिए पिता द्वारा आयोजित स्वयंवर में अपने सौभाग्य के लिए देवी की अराधना करने पर ही श्रीराम का वरण प्राप्त होता है। ‘द्रौपदी’ की स्थिति तक तो समाज में स्त्री की गरिमा और कम हो गई। पिता द्वारा आयोजित ‘स्वयंवर’ (?) में चयन का आधार और कम हो गया। चयन के लिए शर्त रखी गई कि जो योद्धा परछाई देखकर तैरती मछली की आँख बेध देगा, भले ही वह योद्धा रोगी, भोगी या फिर विवाहित बूढ़ा ही क्यों न हो, यदि वह शर्त पूरी

करेगा तो स्वयंवरा द्रौपदी को उसे ही वरमाला पहनानी होगी। क्या इसे सच्चा स्वयंवर कहा जा सकता है? द्रौपदी के स्वयंवर में कर्ण जैसा योद्धा भी आता है जो स्वयंवर में अपना पति चुनने के लिए बैठी 'राजकन्या' का वरण कर, उसे अपने मित्र दुर्योधन को सौंप देने के लिए आतुर था। दूसरी ओर जिसने वरण किया उस अर्जुन ने, अपनी धर्मपत्नी को माँ द्वारा बिना सोचे समझे दिए गए आदेश का अनुपालन करते हुए चार अन्य भाइयों के साथ बाँट लिया। भ्रात-प्रेम और नारी सौन्दर्य पर मुग्ध पुरुषों ने द्रौपदी की पूर्वजन्म की इच्छा और माँ के आदेश के नाम पर नारी जीवन को 'त्रासदी' में बदल दिया। मेरी दृष्टि में तो नारी 'स्व' एवं स्वाभिमान को खंडित करने वाली इस त्रासद घटना से ही सम्भवतः समाज में नारी के लिए 'स्त्री' पर्यायवाची शब्द गढ़ा गया होगा। अर्थात् अपने ही 'स्व' (अपना अस्तित्व) से त्रस्त (पीड़ित) जीव का नाम 'स्त्री' है। इसी बिन्दु पर नारी भी 'अर्धांगिनी' से 'धर्मपत्नी' बनी होगी क्योंकि कल तक जो नारी थी वह एक पत्नी व्रत के कारण पति के साथ एकाकार हो (शिव-पार्वती, राम-सीता आदि) अर्धांगिनी थी पर जब पाँच पतियों ने पुत्र धर्म की आड़ लेकर एक स्त्री को पत्नी बनाया तो वह 'धर्मपत्नी' हो गई। समय की धारा तो बहती रहती है उसको कोई नहीं रोक सकता।

स्वच्छ से स्वच्छ जलधाराएँ भी जब उनके जल में अतिशय गंदगी डाल दी जाती है तो भोंथरी हो जाती है। उनका व्यक्तित्व प्रदूषित हो जाता है; तब धीरे-धीरे अपना व्यक्तित्व, अपनी पहचान खोती जा रही नारी जाति समाज द्वारा पैदा की गई रूकावटों का सामना कर अपना अस्तित्व कैसे सुरक्षित रखें— यक्ष प्रश्न बन जाता है। दुर्गासप्तशती के पौराणिक आख्यान महिषासुर के रूप में स्त्री को भोग्या मात्र समझने की कथाएँ ही तो हैं। 'देवी' जब नारी के कोमल रूप को त्याग 'काली' बन संहार कहती है तभी समाज

उसकी पूजा करता है और तब 'स्त्री' भी शक्ति बन प्रतिष्ठा भी प्राप्त करती है—

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।¹

दुनिया के इतिहास में दुर्गासप्तशती की कथाओं के आधार पर किसी स्त्री ने अपनी शक्ति का संचय कर, दुष्टों को पराजित कर पहली बार इतना यश प्राप्त किया कि वह मानव समुदाय का अंग ना मानकर अवतारों की श्रेणी में समाहित कर 'देवी' बनाई गई। पहली बार पितृसत्ता के मजबूत किले में 'स्वयंभवा' स्त्री की भी स्थायी प्रतिष्ठा हुई और आज तक भारतीय समाज स्त्री के रौद्र अवतार से अभिभूत हो हर वर्ष नवरात्रों के रूप में स्त्री पूजन करता है। संहिता काल के सशक्त हस्ताक्षर मनु ने भी इसीलिए कहा—

'यत्र नर्यास्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवता।

यत्रैतास्तु न पूजयन्ते, सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।²

अर्थात् जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहीं देवता निवास करते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं भारतवर्ष में सदियों तक स्त्रियों को समाज में आदर, मान, समकक्षता मिलती रही लेकिन यह समाज की पुरुष प्रधान सोच के द्वंद को भी उजागर करता है। यही मनु आगे चल कर स्त्री को बचपन में पिता, विवाह उपरान्त पति और बुढ़ापे में पुत्र के अधीन रहने की सामाजिक व्यवस्था बनाकर स्त्री की स्वतंत्र सोच, व्यक्तित्व एवं नैसर्गिक प्रतिभा का दलन कर देते हैं। मनु ही क्यों जिस प्रकार राम ने सीता को वनवास दिया और युधिष्ठिर ने द्रौपदी को द्यूत क्रीड़ा में दाँव पर लगा दिया उससे तो यही सिद्ध होता है कि पुरा भारतीय समाज में भी स्त्रियों को पुरुषों की मूल्यवान प्रतिभूति ही माना जाता था। वैदिक काल में स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष जो शिक्षा दी जाती थी धीरे-धीरे उसमें भी कमी आने लगी। उदाहरण के लिए केकैयी दशरथ के साथ युद्ध भूमि में ही नहीं जाती बल्कि उनकी सहायता

कर दो वरदान भी प्राप्त करती है। सीता स्वयंवर में जिस शिव धनुष को बड़े से बड़े राजा और त्रिलोकी रावण हिला भी नहीं पाए उस शिव धनुष को सीता सहजता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखकर धनुर्विद्या के ज्ञान का संकेत देती है। देवी के नौ रूप तो स्त्री के पराक्रम, सैन्य संचालन का सुन्दर वर्णन है पर याज्ञसेनी द्रौपदी ऐसे किसी भी रणकौशल, ज्ञान का परिचय ना देकर परिवार का भरण-पोषण करने, पतियों का सुख-दुःख में साथ देने वाली गृहणी की भूमिका ही निभाती है। काश याज्ञसेनी के पास भी शस्त्र शिक्षा होती तो वह भी चीरहरण करने वाले हाथ चामुण्डा के समान काट कर फेंक देती! पर पुरुष सत्ता ने तो स्त्री को कार्येषु मंत्री, करणेषु दासी के रूप में उसके कर्म क्षेत्र को सीमित करके रख दिया था। धीरे-धीरे कर्म क्षेत्र का क्षेत्रफल भी घटता गया और उसी के साथ घट गई स्त्रियों की शिक्षा, आर्थिक आत्म-निर्भरता, राजनीतिक अधिकार....। महाभारत काल में जो पुत्र माता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर पाए उन्होंने भी आगे चलकर घर के कर्ता-धर्ता पिता के सम्मुख माँ को महत्त्व देना कम कर दिया यह कोई गुप्त रहस्य नहीं है।

ईसा के 600 वर्ष पूर्व से लेकर सन् 1947 की आजादी तक भारतीय समाज में स्त्री की यही स्थिति रही। उत्तर वैदिक काल में महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आने शुरू हुए उन्होंने समाज में यह धारणा बना दी कि बौद्धिक दृष्टि से स्त्री पुरुष से निम्न स्तर की होती है। बुद्ध ने स्त्रियों की स्वतंत्रता की खिड़की खोलते हुए बौद्ध धर्म के विहारों में स्त्रियों को स्थान दिलाया लेकिन बौद्ध भिक्षुणियों पर हुए अनाचार किसी से छिपे नहीं है। उसके बाद तो स्त्रियों की स्थिति बद-से-बदतर होती गई। बुद्ध के लगभग तेरह सौ वर्षों के बाद एक मनीषी स्त्री का नाम भारतवर्ष के पटल पर उभरकर सामने आया वह है- मंडनमिश्र की पत्नी 'भारती' जिसकी विद्वता के सम्मुख 'आदिशंकराचार्य' भी पराजित हो रहे थे

पर पुरुष सत्ता को यह स्वीकार्य कब था? उन्होंने उसे चुपचाप पराजय स्वीकारने का आदेश दिया अन्यथा उसे तो सिर के सौ टुकड़े करने की सजा भोगने की सजा सुना दी गई थी। 'भारती' की खामोशी स्त्री जगत की खामोशी में बदलती गई। धर्म भले ही विवाहित स्त्री को पत्नी बना पति की 'अर्धांगिनी' घोषित करता रहा पर व्यवहार में वह पति की छाया मात्र बनती जा रही थी। देश पर भी विदेशी आक्रमणकारियों के ताबड़तोड़ हमले होने लगे। सदियों से जो भारतवर्ष विश्वगुरु बन इटला रहा था वह आरामपरस्त हो चुका था। राज्यलिप्सा, भोग-विलास एवं स्वकेन्द्रित सोच ने धर्म को कर्मकांड में, नीति को अपने हितार्थ प्रयोग करने की प्रवृत्ति में बदलकर रख दिया। यथा राजा तथा प्रजा के अनुरूप जनसाधारण भी स्थिति का संघर्षमय सामना करने के स्थान पर भाग्यवादी हो गया। देखते ही देखते भारतवर्ष के बड़े-बड़े साम्राज्य विदेशी आक्रमणकारियों से पराजित होने लगे। भारतीय संस्कृति का दिव्य भवन भी विदेशी संस्कृति के प्रहार से ध्वस्त होने लगा क्योंकि पुरखों की धरोहर पर इटलाने वाले भारतीय समाज ने इसकी मरम्मत का काम तो कब का पोंगापंडितों के भरोसे छोड़ दिया था। अपने लाभ के लिए राजनीति ने कर्मकांडीय सिद्धान्तों से गठजोड़ कर देश को जातिवाद के पंक से ऐसा धकेला जिससे आजादी के सत्तर वर्ष बाद भी हम मुक्त नहीं हो पाए। धर्म की आड़ में पितृसत्ता की वेदी पर स्त्री को मृत पति के साथ सरेआम चिता में जलाया जाने लगा, कन्या का जन्म माता-पिता के लिए हर्ष का नहीं शोक और शर्म का प्रतीक बन गया। कहीं उसे बाल्यकाल में ही विवाह के बोझ तले कुचल दिया जाता था तो कहीं उसका जीवन ही छीन लिया जाता था। स्त्री पतन का कारण समझा जाने लगी। यहाँ तक की क्रांति धर्मा कबीर ने भी घोषणा कर दी कि- 'नारी की झाई पड़त अंधता होत भुजंग/ कबीरा उनकी क्या गति जो नित नारी के संग।'

ऐसी कारी, अधियारी, कालस्वरूपा सैंकड़ों सदियों बीत गई तब जाकर मध्ययुग में 'मीरा' प्रकाश स्तम्भ के रूप में उभरती है। मन जब अविचल और शुद्ध हो तब मानव जीवन में ईश्वरीय ज्ञान की ऐसी ज्योति प्रकट होती है जो युगों-युगों को प्रकाशित करती है। अल्बर्ट आइंस्टीन ने कहा था— अंतरदर्शी मस्तिष्क एक पवित्र उपहार है तो विवेक सम्मत मस्तिष्क विश्वासी सेवक। मीरा इन दोनों ही गुणों को सात्विकता और विनम्रता की तुला पर साधकर स्वाधीनता के स्वातंत्र्य को ईश्वरीय ज्योति में बदल देती है। 'जातक' के अनुसार सत्य, धर्म, धृति और त्याग जैसे गुणों से ही मनुष्य शत्रु को पराजित कर सकता है। मीरा में ये चारों गुण स्वाभाविक संस्कार के रूप में विद्यमान थे जिनके बल पर वह अकेली ही हर विपत्ति और शत्रु को पराजित कर सकी। इसीलिए डॉ. सुरेश गौतम कहते हैं— "मीरा जीवन का मुकम्मल गीत है, विचार और कार्य में संतवाणी सा सार्वभौम, जीवन की लघुकथा का महाकाव्य।"³ मीरा की वाणी में सत्य और धैर्य सदा विद्यमान रहे इसीलिए उनके मन की शांति भंग नहीं हुई जबकि मीरा का जीवन आरम्भ से ही झंझावतों में झूलता रहा था। राजपरिवार में जन्म लेने के बावजूद मीरा का जीवन समकालीन स्त्री समाज की तुलना में ज्यादा संघर्षशील रहा क्योंकि मीरा राज परिवार की रानी नहीं, अपने आराध्य श्रीकृष्ण की भक्ति में लीन रहते हुए जीवन बिताना चाहती थी। मीरा जन्म से लेकर मृत्यु तक की स्त्री जीवन यात्रा और कष्टों को निकट से अनुभूत कर रही थीं। उनका मन संसार के द्वारा स्त्री के लिए चयनित किए गए जीवन की चारदीवारी में नहीं बँधना चाहता था। वह तो अपने बाल्यकाल में ही श्रीकृष्ण को समर्पित होकर उनकी भक्त बन गई थीं।

भारत के आज के सुप्रसिद्ध पर्यटन नगर जोधपुर को बसाने वाले महाराज जोधाजी की प्रपौत्री मीरा का विवाह उदयपुर के महाराणा

सांगा के पुत्र कुमार भोजराज के साथ हुआ। विवाह के कुछ समय पश्चात् ही मीरा विधवा हो गई लेकिन इस लौकिक विवाह से पूर्व मीरा बाल्यावस्था में लोक किंवदन्ति के अनुसार अपने आराध्य गिरधर गोपाल (भगवान् श्रीकृष्ण) का वरण कर चुकी थी। वे कहती है—

"आण मिल्यो अनुरागी गिरधर आण मिल्यो अनुरागी।

साँसो सोच अंग नहि अब तो तिस्ना दुबध्याः त्यागी।

मोर मुकुट पीतांबर सौहे, स्याम बरण बड़ भागी।

जनम—जनम के साहिब मेरो, वाही से लौ लागी।"

4

अर्थात् मेरा अनुरागी गिरधर, मुझे मिल गया है। अब न तो मुझे कोई चिंता है और न ही किसी प्रकार की दुविधा। मेरे प्रियतम मोर मुकुट पीताम्बर से सुशोभित है। ऐसे श्याम का वरण करने से मैं बहुत सौभाग्यशाली बन गई हूँ। वही (श्रीकृष्ण) मेरे जन्म—जन्म के साहिब हैं और उन्हीं के साथ मेरी लगन लगी है। मीरा का श्रीकृष्ण से यह प्रेम बनावटी नहीं था। भारतीय दर्शन में परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध पुरुष और प्रकृति का युगल भाव माना जाता है। इस सम्बन्ध की उपलब्धि ही जीवात्मा को मोक्ष प्रदान करती है। मीरा अध्यात्म के इसी पथ पर चलते हुए— "वह गिरधर के रंग में रंग गयी। उसके प्रेम में अनुरक्त हो गई। शरीर रूपी इन वस्त्रों को खोलकर आत्मरूप होकर परमात्मा प्रिय से वह एकात्म हो गई।"⁵

जिस राजस्थान में 19वीं सदी के अवसान (सन् 1987 में) के समय एक आम स्त्री 'रूपकंवर' सुनियोजित तरीके से सती बनकर पूजी गई, उसका मंदिर बनाकर चढ़ावा वसूला जाता है, उसी राजपूताने में 15वीं सदी में विधवा स्त्री के पति की मृत्यु के बाद सती होना सामान्य चलन बन चुका था। यहाँ तक कि कई राजकन्याएँ तो

युद्धभूमि में पति के जाते ही 'जौहर' कर लेती थी, उस राजपूताने में पतिव्रत सम्मान का प्रतीक—'सती कुप्रथा' का मीरा तिरस्कार कर देती है। मीरा 'सती' ही नहीं होती वरन स्वयं को विधवा भी नहीं मानती। मीरा ने इसके बाद कितना संघर्ष झेला होगा उसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। मैनेजर पांडेय सही लिखते हैं— "अपने प्रेम की रक्षा के लिए मीरा का संघर्ष चौतरफा है। उसके विरोध में राणा की राजसत्ता है और सिसोदिया कुल की मर्यादा (कुल—कानि) की पुरुष प्रभुत्व की सत्ता है और सामंती समाज की रूढ़ियाँ (लोक—लाज) भी। इसमें कोई भी एक स्त्री की स्वतंत्रता की हत्या करने में सक्षम है।"⁶ सच्चाई भी यही है। मध्यकालीन भारत में उच्चकुल की स्त्रियाँ तो निम्न वर्ग की स्त्रियों की तुलना में नैतिकता की कठोर शृंखलाओं में और अधिक जकड़ी हुई थी। आर्थिक रूप से कमजोर निम्न जाति के परिवारों में जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के कारण स्त्रियाँ भी पुरुषों के साथ घर से बाहर (काम—काज करने के लिए) कुछ देर खुली हवा में चैन की साँस ले सकती थी लेकिन उच्चकुल की आभूषणों की बेड़ियों में जकड़ी सामंती सोच के अनुरूप जीवन व्यतीत करने वाली स्त्रियों के भाग्य में यह सुख नहीं था। उच्च नैतिक व्यवहार पुरुषों के लिए अलग और स्त्रियों के लिए अलग था। पुरुष को बहुविवाह की खुली छूट थी जबकि स्त्री के लिए अनुसूया का आदर्श था। मीरा ऐसे दोगले समय में अपनी आवाज बुलंद कर स्त्री स्वातंत्र्य की अलख जगाती है। समझ के थोड़ा परिपक्व होते ही वे खुले आम श्रीकृष्ण को अपना पति घोषित कर देती है। मीरा का यह कदम विद्रोह नहीं, सदियों बाद किसी भारतीय स्त्री का पुनः 'स्त्री स्वतंत्रता' की ओर उठाया गया कदम है।

मीरा का समय भक्ति आंदोलन का समय है और भक्ति स्त्री और पुरुष दोनों को ही आध्यात्मिक सागर में डूबने की अनुमति देती है किन्तु यहाँ भी मीरा को संघर्ष करना पड़ता है।

भक्तिकाल के क्रांतिकारी कवियों नानक, जायसी, कबीर, तुलसी, सूर, रैदास को भी वैसी विपत्तियाँ नहीं उठानी पड़ी होंगी जैसी स्त्री होने के कारण मीरा ने भोगी थी। पुरुष संतों का संघर्ष भाव जगत से ज्यादा जुड़ा था जबकि मीरा को भाव जगत के साथ—साथ घर—समाज की लौकिक पीड़ाओं को भी भोगना पड़ा था। एक विधवा स्त्री और वह भी राज परिवार से जुड़ी स्त्री, कुल की मर्यादा का उल्लंघन कर साधु— समाज की संगत ही नहीं उनके सम्मुख घुँघरू पहन विह्वल होकर नाचे, सुहागिनों की तरह शृंगार करने का दुःसाहस करे—

"माई साँवरे रंग राची

**साच—सिंगार बांध पर घुँघरू, लोक—लाज तक
नाँची।"⁷**

तो सामंती समाज ऐसी कुलनासी स्त्री को कैसे बख्शाता। सामंती समाज की अधिकांश स्त्रियाँ तो भयवश पुरुषों का साथ देकर अपने लिए झूठे—मूठे अधिकार, उपहार और सम्मान की तलछट पर इतराने के लिए, स्वाभिमानी स्त्रियों पर पुरुषों के समान ही अत्याचार करने से भी गुरेज नहीं करती। दुष्ट पुरुषों को भी ऐसी सहायिकाओं की आवश्यकता होती है और वे इन स्त्रियों को खुली छूट देकर आधी आबादी पर निर्बाध राज करते हैं। दुनिया भर में स्त्रियाँ पारिवारिक हिंसा का शिकार इसी कारण से होती आई हैं क्योंकि घर की स्त्रियाँ एक दूसरे की मदद नहीं करती तब भला मीरा कैसे पारिवारिक हिंसा का शिकार नहीं बनती? उन्होंने स्वयं लिखा है—

"पग बाँध घुँघरयाँ पाच्यारी।

**लोग कहयाँ मीरा बाबरी, सासु कह्याँ कुलनासी
री।**

विष रो प्यालो राणा भेज्याँ, पीवाँ मीरा हाँसाँ री।"⁸

राजमहलों की राजनीति समाज में सर्वाधिक विकृत होती है। प्रजा भी उन्हीं का अनुसरण

करती है। मीरा लेकिन एक झटके में ही महलों की दहलीज लॉघ सभी को हतप्रभ कर देती हैं। अपने प्रिय हरि के प्रेम के लिए वे निर्भय होकर घर से बाहर निकल गई क्योंकि राजा के रूठने पर तो नगर त्यागा जा सकता है लेकिन हरि (ईश्वर) रूठ गया तो भक्तिन को कहाँ शरण मिलती? मीरा ने कहा भी—

**“राजा रुठ्याँ नगरी त्याँगा, हरि रुठ्याँ कठ
जाणा।**

राणै भेज्या विखराँ प्याला, चरणामृत पी जाणा।।”⁹

मीरा ने अपने प्रिय से मिलन के लिए ससुराल—मायका दोनों को त्यागने में कोई हिचक नहीं दिखाई। उनका तो एक ही लक्ष्य था— अपने जोगी (योगेश्वर श्रीकृष्ण) से मिलना। नगरी—नगरी, जंगल—जंगल अपने जोगी को मीरा ढूँढती है लेकिन—

**“मैंने सारा जंगल ढूँढा रे, जोगिड़ा न पाया
काना बिच कुंडल, जोगी गले बिच सेली घर घर
अलख जगाए रे।**

**अगर चंदन की धुनो जोगी धकाई,
अंग विच भभूत लगाए रे।**

**मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, सबद का ध्यान लगाए
रे।।”¹⁰**

मीरा के अनेक पदों में जोगी शब्द आया है और मीरा जोगन बन अपने जोगी (योगी जो श्रीकृष्ण भगवान् का पर्यायवाची नाम है) को ढूँढती है पर आज के प्रबुद्ध ‘मनोविज्ञान’ पढ़े—लिखे आलोचक सदियों बाद दूर की कौड़ी लाकर ‘स्त्री’ के ईश्वरानुराग को भी प्रश्नांकित कर देते हैं! सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का कहना है— “जोगी को लेकर मीरा ने जो कुछ कहा है, वह कुछ और भी संकेत कर सकता है, जिसके विरह में मीरा दुःखी है, और जिसे लेकर मीरा ने ऐसी अनचूक अभिव्यक्ति की है, उसका

लौकिक आधार नहीं होगा, यह मानना सम्भव नहीं लगता.....।”¹¹ त्रिपाठी जी के मत को डॉ. भगवानदास तिवारी जैसे सुविज्ञ आलोचक पूरी तरह से खारिज करते हुए कहते हैं कि— “मीरा के जोगी संबन्धी पद भ्रष्ट हैं। उन्हें किसी या किन्हीं जोगी नामधारियों ने भ्रष्ट किया है। जोगी सम्बन्धी उक्त भ्रष्ट पदों के आधार पर श्रीमती पद्यावती शबनम ने मीरा के जोगी—विशेष के प्रति गहरे व्यक्तिगत दाम्पत्य—सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले अंतःस्रोत की जो कल्पना की है, वह अनुचित और भ्रान्त ही नहीं, मीरा की पुनीत नैतिकता पर आरोपित झूठा कलंक भी है।”¹²

परम्परा धर्म और संस्कृति की अनवरत बहती धारा का नाम है। इस धारा को विभिन्न मतों, विचारों और उनके स्रोतों से भी परहेज नहीं होता। समय की छलनी से छन कर निकली परम्परा में देशी—विदेशी सब एकाकार हो जाते हैं किन्तु— “..... परम्परा केवल वही मुख्य नहीं जिसकी रचना बाहर हो रही है, कुछ वह भी प्रधान है जो हमें अपने पुरखों से विरासत के रूप में मिली है..... जिसके भीतर से हम अपने हृदय को अपनी जाति के हृदय के साथ आसानी से मिला सकते हैं।”¹³ इसीलिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विश्वासी भारतीय ‘लोक’ पाश्चात्य चिंतकों से उधार ली गई आधुनिक दृष्टि का मोहताज नहीं होता। उसकी दृष्टि में मीरा का चरित्र मध्यकाल से लेकर वर्तमान तक उज्ज्वल और अनुकरणीय रहा है, जिसकी तुलना किसी अन्य भक्तिमति से करना मुश्किल है।

स्वामी रामतीर्थ का कहना था—मन की शुद्धता ईश्वर प्राप्ति का एक बड़ा मार्ग है। मीरा मानवीय मन की शुद्धता का मानक शिखर है। इस शिखर की ऊँचाइयों को छूना सामान्य भौतिकवादी जन के लिए असम्भव है लेकिन हमारा लोक सदियों से अपने अमर नायक—नायिकाओं की आत्मा से निकले दिव्य विचारों को गौर से सुनकर अंतर्ज्ञान प्राप्त करता

आया है। यह अंतर्ज्ञान दैवीय प्रकाश की तरह होता है जो दूसरों की आत्मा को भी ज्योति कलश बना देता है। मीरा आज भी ऐसा प्रकाश स्तम्भ है जो अपनी मानवता, समझदारी, प्रेम, ज्ञान और आध्यात्मिक समर्पण से ना केवल स्त्री जगत वरन् सम्पूर्ण मानवता को प्रेमाभक्ति का मार्ग प्रशस्त करने के साथ-साथ, स्त्री अस्मिता, उसके समानाधिकार और स्वाधीनता की राह को भी प्रकाशित करता है। 'स्त्री अस्मिता' के जो बीज हमें मीरा के काव्य और जीवन में मिलते हैं, वही आज 'स्त्री विमर्श' के रूप में लहराते हुए शृंखला की कड़ियों को तोड़ मुक्ति के स्वर प्रदान कर रहे हैं। डॉ. विनोद सोमानी हंस ने ठीक ही लिखा है—

त्याग, तपस्या और समर्पण, मिलकर नाम बना
मीरा।

गिरधर जिसके सांचे प्रीतम, अहर्निश नाम रटा
कृष्णा।।

× × × × × × × × × × × ×

जगत छोड़ ध्याया उसको, हुई विलुप्त तृष्णा।

श्रद्धा भक्ति और पावनता, मिलकर नाम बना
मीरा।¹⁴

संदर्भ

1. श्री दुर्गासप्तशती – गीता प्रेस गोरखपुर, पृ. 10
2. मनुस्मृति – रामचन्द्र वर्मा शास्त्री, प्रभात प्रकाशन, (3/56)
3. मीरा का पुर्नमूल्यांकन – डॉ. सुरेश गौतम, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा प्रकाशन, पृ. 2
4. मीरा पदावली – (सं.) नीलोत्पल, प्रभात पेपर बैक्स, पृ. 43
5. संतकवि मीराबाई— विवेक भसीन, डॉ. बलदेव वंशी, इन्द्रप्रस्थ इंटरनेशनल, पृ. 142
6. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य— मैनेजर पांडेय, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 42,
7. 7–10. मीरा पदावली— (सं.) नीलोत्पल, प्रभात पेपर बैक्स, क्रमशः पृ. 91, 142, 50, 98, 99
11. 11–12. भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य—शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, पृ. 185–186
13. साहित्य संचेतना— (स. उमापति मिश्र)— डॉ. वीरेन्द्र शर्मा, राजकुमार एण्ड संस, पृ. 127
14. मीरायन, दिसम्बर 2010 – फरवरी 2011 (मीरा स्मृति संस्थान, चित्तौड़गढ़)— डॉ. विनोद सोमानी हंस, पृ. 6